विज्ञान–दर्शन और भारतीय वैज्ञानिक संस्थान

❑ डॉ. अ.प्र. शुक्ल

बेशक विज्ञान और तकनीकी हमारे समय की सबसे प्रबल शक्तियां और संसाधन हैं । ऐसी स्थिति में यह और भी जरूरी हो जाता है कि सैद्धांतिकी ओर प्रविधि, दोनों स्तरों पर इनकी सामाजिक उपादेयता सुनिश्चित की जाये । राज्य ने इसी उद्देश्य से विज्ञान और तकनीकी क्षेत्र के नियंत्रण एवं नियमन का दायित्व लिया था । यह लेख बताता है कि राज्य के हस्तक्षेप के बावजूद विज्ञान मानव-हित के दर्शन से विलग होकर एक स्वायत्त दुनिया बनता रहा है । लेख में वैज्ञानिक संस्थानों के स्वरूप और चरित्र का आकलन करते हुए जन-समाजों से इनकी दूरी का मुद्दा उठाया गया है । प्रस्तुत लेख काफी पहले लिखा गया था, तब तक उदारीकरण की आंधी नहीं चली थी और बहुराष्ट्रीय कंपनियों का देश में प्रवेश नहीं हो पाया था ।

''यह अनिवार्य है कि विज्ञान का हर छात्र जीवन-मूल्यों की समझदारी को, और उनके लिये जीवन्त भावना को अर्जित करे । उसको चाहिये कि वह सौंदर्य की, और नैतिकता की बहुत अच्छी और गम्भीर समझदारी प्राप्त करे। अन्यथा, अपने विशेष ज्ञान के कारण, वह एक अच्छी तरह सिखाये हुए पातलू कुत्ते की तरह है और उसका व्यक्तित्व सुचारू रूप से विकसित नहीं हो सकता ।''

- अल्बर्ट आइन्सटाइन न्यूयार्क टाइम्स, 5 अक्टूबर, 1952

(क) भूमिका : मुझको गढ़ने में विज्ञान का महत्व

मैं पिछले 30-32 साल से वैज्ञानिक उद्यम से आजीविका कमा रहा हूं । पहले मैंने बंबई (वर्तमान बी. ए. आर. सी.) में करीब छह साल रिएक्टर इन्स्ट्रूमेन्टेशन में काम किया। उसके बाद करीब आठ साल अमेरिका में न्यूक्लियर फिजिक्स के क्षेत्र में शिक्षा ली, और अनुसंधान किया । करीब पन्द्रह साल से आई. आई. टी. में अध्यापन कर रहा हूं । जब से मैं आई. आई. टी. में हूं , मैंने देश के राजनैतिक, सामाजिक जीवन से जुड़ने का प्रयास किया है, और इस प्रकार भौतिकी के क्षेत्र में मेरा परम्परागत अनुसंधान कार्य बिल्कुल बन्द हो गया । शुरू के सात-आठ साल तक, पढ़ने के बाद अपना सारा फालतू समय मैं आई. आई. टी. के कर्मचारी ट्रेड यूनियन आन्दोलन और संगठन में लगाता रहा । इस काम से सामूहिक जन-पहल की मुझे बहुमूल्य शिक्षा मिली और संसदीय व्यवस्था,और ट्रेड यूनियन जैसे जन संगठनों की जटिलता का, और नेतागिरी की अवसरवादी ताकतों से जूझने का व्यक्तिगत अनुभव हुआ । आज का ट्रेड यूनियन आन्दोलन पूंजीवादी कानून के दायरे में सीमित होकर अर्थवाद के दलदल में फंसा हुआ है। इस आधारभूत राजनैतिक समस्या का हल निकले बिना उसके लिये कोई समाजोपयोगी भूमिका निभाना संभव नहीं है । अर्थवाद के दानव से निपटने के लिए तदनुरूप राजनैतिक संगठन बनाने होंगे, और मेरे जैसे अदना आदमी के लिए यह काम संभव नहीं है । इस प्रकार अपने अनुभव से मैंने पाया कि मैं कोई उपयोगी भूमिका ट्रेड़ यूनियन में नहीं निभा पा रहा हूं, और तब मेरी रुचि विज्ञान के सामाजिक संदर्भ के अध्ययन की ओर हो गयी ।

पिछले सात-आठ साल से मैंने इस दिशा में काम करना शुरू किया और अपने कुछ सहकर्मियों और मित्रों के साथ विज्ञान के इतिहास और दर्शन का अध्ययन आई. आई. टी. में शुरू किया। इसी अध्ययन के दौरान सन् 1979 ई में मेरी सहकर्मी प्रो. (श्रीमती) मलिक ने सुझाया कि मैं टी. एस. कुन की पुस्तक ''वैज्ञानिक क्रान्तियों की संरचना'' का अनुवाद मूल अंग्रेजी से हिन्दी में करूं। इससे पहले मैं इस पुस्तक से परिचित नहीं था, और विज्ञान के इतिहास और दर्शन की इसकी विषयवस्तु की भी मेरी जानकारी बहुत निचले स्तर की थी । जब मैंने पुस्तक पढ़ना शुरू किया तो मुझे बहुत गहरी अनुभूति हुई और ऐसा लगा कि अब तक की विज्ञान की मेरी समझदारी में बहुत गंभीर गलतियां और भ्रान्तियां थीं। अपनी प्रतिक्रिया को कुन के शब्दों में ''मत परिवर्तन'' भी कहूं तो अतिश्योक्ति नहीं होगी । अपने व्यावसायिक अलगाव को सैद्धान्तिक आधार मिलने पर कुछ राहत मिली, और विज्ञान के इतिहास और दर्शन को पढ़ने में रूचि और बढ़ी । इस प्रकार पिछले सात-आठ सालों से मेरे साथी और मैं इन विषयों पर, काफी हद तक, अनौपचारिक और अव्यवस्थित अध्ययन कर रहे हैं जिसे किसी माने में गहरा नहीं कहा जा सकता । परन्तु क्योंकि अध्ययन के साथ साथ हम लोग जन-जीवन से विज्ञान के संदर्भ में जुड़ने का प्रयास कर रहे हैं तो विज्ञान के संकट की अनुभूति हो रही है; जिससे

विज्ञान के प्रति समीक्षात्मक समझदारी बनाने और वैकल्पिक विज्ञान के बारे में सोचने के लिए प्रेरणा मिल रही है । सैद्धांतिक स्तर पर मार्क्सवाद की वैज्ञानिक समाजवाद की धारणा से, और द्वंद्वात्मक भौतिकवाद के दार्शनिक दृष्टिकोण से बहुमूल्य दिशा निर्देशन मिल रहा है । निम्नलिखित विचार इसी चिन्तन और अनुभव का परिणाम हैं ।

(ख) विज्ञान की समझदारी

'वैज्ञानिक समुदाय की गतिविधि' और उसका सामाजिक व्यवहार ही 'विज्ञान है', इसलिये मैं विज्ञान को इसी ढंग से देखने की कोशिश करता हूं और इसी तरह आपके सामने अपनी बात रखूंगा । ऐसे देखने से ,विज्ञान के दो पहलू महत्वपूर्ण हो जाते हैं। एक तो समय के साथ वह निरन्तर विकासशील है, और दूसरा, क्योंकि दुनिया में विकास का स्तर असमान है, इसलिये अलग-अलग जगहों के विज्ञान के बीच मौलिक भिन्नता हो सकती है । इस तरह हम तीन बिल्कुल भिन्न-भिन्न विज्ञानों पर एक के बाद एक विचार करेंगे ।

(1) 17-18 वीं शताब्दी का यूरोपीय विज्ञान

यह यूरोप में सामन्तशाही से पूंजीवाद के संक्रमण का युग है। स्पेन, पुर्तगाल, हॉलैंड, ब्रिटेन और फ्रांस जैसे देश व्यापार और साम्राज्यवादी शासन के द्वारा एशिया, अफ्रीका और अमेरिका को अपने कब्जे में कर रहे थे । पूंजीवाद को समाज में स्थापित करने के लिए सामन्तवाद के अध्यात्मवादी दर्शन, और धर्म-प्रतिष्ठान की सत्ता से लड़ना जरूरी था । इस तरह विज्ञान के क्षेत्र में भौतिकवादी दर्शन की शुरूआत हुई , और इसलिए विज्ञान को प्राकृतिक दर्शन का नाम दिया गया । इस माहौल में यह जरूरी था कि हर वैज्ञानिक दार्शनिक भी हो । इस ऐतिहासिक तथ्य की सच्चाई इस बात से सिद्ध होती है कि धर्म-प्रतिष्ठान के विज्ञान-विरोधी आतंक के शिकार, ब्रूनो जैसे दार्शनिक, और गलीलियो जैसे वैज्ञानिक हुए । इस ऐतिहासिक युग में यूरोप के विभिन्न देशों की सरकारों द्वारा स्वीकृत विचार-पद्धति ईसाई धर्म पर, और अरस्तू के परम्परागत दर्शन पर आधारित थी । प्रकृति के अध्ययन पर आधारित नवजात वैज्ञानिक दर्शन इसके खिलाफ एक विद्रोह था, और इसलिए एक जोखिम भरा काम था । इसका एक उदाहरण मशहूर फ्रेन्च दार्शनिक और वैज्ञानिक देकार्त है जो उत्पीड़न से बचने के लिए अपने स्वतंत्र चिन्तन को गोलमोल भाषा में व्यक्त करने के लिए मजबूर हुआ । धर्म-प्रतिष्ठान के साथ इस प्रकार किये गये ऐतिहासिक समझौते का गहरा असर उसके दर्शन पर भी पड़ा । देकार्त ने विश्व को 'आकाश में विस्तृत तत्व' और 'विचारशील तत्व' में बांटा, और क्रमशः उनको वैज्ञानिक समुदाय और धर्म प्रतिष्ठान का कार्यक्षेत्र बना दिया । वैज्ञानिक उद्यम द्वारा धर्म-प्रतिष्ठान के साथ किये गये इस ऐतिहासिक समझौते से पैदा हुआ यह द्वैतवादी दर्शन किसी निर्बाध और सुसंगत भौतिकवादी दर्शन की स्थापना में सबसे बड़ी बाधा है ।

इस तरह, इस समय के विज्ञान की दो परस्पर-विरोधी विशेषताएं है । एक तो, उसमें दार्शनिक गतिशीलता थी जो धर्मान्धता और अंधविश्वास को हटाकर तर्कबुद्धि पर आधारित भौतिकवादी दर्शन को स्थापित कर रही थी, और इसके लिए वैज्ञानिकों को उत्पीडन और यातनाएं भी सहन करनी पड़ रही थीं। इसके विपरीत, उस समय यूरोपीय पूंजीवाद की सफलता के प्रतीक थे अमेरिका के मूल निवासियों के नरसंहार से प्राप्त किया गया सोना-चांदी, अफ्रीका से जंगली जानवरों की तरह पकड़ कर लाये गये गुलाम, जिनसे अत्यन्त अमानवीय ढंग से मेहनत कराकर यूरोप और अमेरिका को धनधान्य से समृद्ध किया जा रहा था, और एशिया के व्यापार पर कब्जा करके वहां की पुरानी विकसित सभ्यताओं को रौंदकर यूरोप का राजनैतिक और आर्थिक प्रभुत्व बढ़ाया जा रहा था। इसी प्रक्रिया से, इस जातिभेद के पूर्वाग्रह की नींव पड़ी कि यूरोपीय मानव श्रेष्ठ है और बाकी दुनिया के लोगों की नस्ल ही खराब है। यूरोप का विज्ञान कभी इस भयंकर साम्राज्यवादी शोषण से लाभान्वित हुआ और इसलिए जातिभेद जैसे अवैज्ञानिक अंधविश्वासों का भी शिकार हुआ । इसलिये इस विज्ञान से हमें बहुमूल्य सीख तो मिलेगी, क्योंकि यह आधुनिक विज्ञान की इमारत की नींव है, परन्तु यह हमारे लिए प्रेरणा का स्रोत नहीं बन सकता क्योंकि वह उस साम्राज्यवाद पर आश्रित था जिसके हाथ तीसरी दुनिया के वीभत्स शोषण से रंगे हुए हैं ।

(2) 19-20 वीं शताब्दी का यूरोपीय विज्ञान

लगभग डेढ़-दो सौ साल पहले वैज्ञानिक उद्यम में ऐसा संक्रमण घटित होना शुरू हुआ जिसको उसकी तीन विशेषताओं से समझा जा सकता है । पहली चीज तो टैक्नोलॉजी के साथ उसका संबंध है । प्राकृतिक दर्शन से बदल कर अब विज्ञान और टैक्नोलॉजी (एस. एण्ड टी.) की जुगल जोड़ी बन जाती है । 19 वीं शताब्दी से पहले भी टैक्नोलॉजी और विज्ञान में नजदीकी संबंध था । जैसे 15-16 वीं शताब्दी के यूरोप में छापाखाना, चुम्बकीय कुतुबनुमा और गोला बारूद सबसे महत्वपूर्ण टैक्नोलॉजी के आविष्कार थे । इनसे संबंधित वैज्ञानिक अनुसंधानों में, 16 वीं शताब्दी के यूरोप में गिलबर्ट का चुम्बक की प्रकृति पर किया गया काम और टार्टग्लिया से शुरू करके, गैलीलियो और अन्य लोगों द्वारा किया गया तोप के गोलों के प्रक्षेप-पथ का काम उल्लेखनीय

है । परन्तु इन महत्वपूर्ण उदाहरणों के बावजूद विज्ञान और टैक्नोलॉजी के बीच का संबंध ढीला और अपेक्षाकृत पारस्परिक स्वतंत्रता का संबंध था, क्योंकि वैज्ञानिक अनुसंधान टैक्नोलॉजी के आविष्कार पर आश्रित नहीं था। परन्तु 18 वीं सदी के खत्म होते-होते स्थिति बिल्कुल बदल गई, और 19 वी सदी में भाप के इंजन, कपडों के लिए रासायनिक रंग, बिजली उत्पादन की मशीनें, रेल का यातायात, और टेलीग्राफ की संचार व्यवस्था जैसी टैक्नोलॉजी विकसित हुई जो या तो वैज्ञानिक अनुसंधान का परिणाम थी, और या जिनके आधार पर सुनियोजित वैज्ञानिक अनुसंधान गठित हुआ । 20 वीं शताब्दी में विज्ञान और टैक्नोलॉजी की विभाजन रेखा और भी धूमिल हो गई है, वह इसी से समझा जा सकता है कि बहुत से संदर्भों में अब विज्ञान का नाम टैक्नोलॉजी के साथ-साथ ही लिया जाता है । सच्चाई तो यह है कि इस माने में विज्ञान टैक्नोलॉजी का गुलाम हो गया है कि वैज्ञानिक उद्यम में ऐसा ही अनुसंधान होता है जिससे टैक्नोलॉजी विकसित हो (फौजी प्रतिष्ठान जिस अनुसंधान के लिए पैसा खर्च करता है, वह अधिकतर इसी श्रेणी का होता है।), या टैक्नोलॉजी के विकसित होने की संभावना हो । इस टैक्नोलॉजी का सकारात्मक असर यह है कि इसने मानव जाति की रोटी, कपड़ा और मकान जैसी भौतिक आवश्यकताओं की आधारभूत समस्या तकनीकी रूप से हल कर दी है। परन्तु जिस पूंजीवादी व्यवस्था में यह टैक्नोलॉजी जकड़ी है, उसी का परिणाम यह राजनैतिक संकट भी है कि इस तकनीकी सफलता के बावजूद दुनिया की तीन चौथाई आबादी को भर पेट भोजन नहीं मिलता और वे जीवन की सबसे अनिवार्य चीजों से वंचित हैं । उपभोक्तावाद, और न्यूक्लियर हथियारों का यह युग आधुनिक टैक्नोलॉजी की देन है , और वर्तमान विज्ञान इस टैक्नोलॉजी पर अभिन्न रूप से आश्रित है ।

देकार्त ने विश्व को 'आकाश में विस्तृत तत्व' और 'विचारशील तत्व' में बांटा, और क्रमश: उनको वैज्ञानिक समुदाय और धर्म प्रतिष्ठान का कार्यक्षेत्र बना दिया । वैज्ञानिक उद्यम द्वारा धर्म–प्रतिष्ठान के साथ किये गये इस ऐतिहासिक समझौते से पैदा हुआ यह द्वैतवादी दर्शन किसी निर्बाध और सुसंगत भौतिकवादी दर्शन की स्थापना में सबसे बड़ी बाधा है ।

विज्ञान के रूपान्तर की दूसरी विशेषता का आधार तो राजनैतिक है, परन्तु उसकी अभिव्यक्ति विज्ञान के दर्शन के संक्रमण के रूप में हुई । ब्रिटेन और फ्रांस की क्रान्तियों के बाद पूंजीवाद यूरोप में मजबूती से स्थापित हो गया, और उसका विकास बहुत तेजी से होता गया । इसलिए सामन्तवाद पर आधारित धर्म-प्रतिष्ठान और अध्यात्मवादी दर्शन की ताकत राजसत्ता में घट गई। इसका बढ़िया उदाहरण 19 वी शताब्दी के मध्य में डार्विन के जातियों के विकास सिद्धांत पर छिड़ी बहस से मिलता है । यह सही है कि धर्म के ठेकेदारों ने इसका विरोध किया, और यूरोप में इस मुद्दे पर कम से कम 30 साल गर्मागरम बहस भी छिड़ी रही, परन्तु कम से कम परोक्ष रूप से राजनैतिक सत्ता का समर्थन वैज्ञानिक सिद्धांत को मिला, और डार्विन को समाज और सरकार द्वारा हर प्रकार का सम्मान मिला । इसकी तुलना जरा सर्वेंटीस, और ब्रूनो जैसे वैज्ञानिकों और दार्शनिकों से कीजिये जिन्हें 16 वीं शताब्दी में अपनी जान से हाथ सिर्फ इसलिये धोना पड़ा था, क्योंकि उनके मत धर्म-प्रतिष्ठान को स्वीकार नही थे । 20 वी शताब्दी आते-आते, विज्ञान का भौतिकवादी दर्शन एक निर्विवाद सत्य, और मानव अस्तित्व की आधारशिला बन गया, और इसलिये वैज्ञानिक समुदाय की पहल दार्शनिक प्रश्नों में बहुत घट गई ।

बीसवीं सदी के विज्ञान की तीसरी विशेषता, राजसत्ता द्वारा वैज्ञानिक गतिविधि के सीधे नियंत्रण के रूप में है। इसके लिए दो नई वैज्ञानिक संस्थाओं का जन्म हुआ है - एक तो सरकारी पैसे पर चलने वाली अनुसंधान की प्रयोग शालाएं, और दूसरी रिसर्च प्रोजेक्ट। दूसरे विश्वयुद्ध के बाद से, दुनिया के लगभग सभी देशों में वैज्ञानिक अनुसंधान की आधार यही संस्थाए हो गई हैं । इससे पहले, अधिकतर वैज्ञानिक अनुसंधान विश्वविद्यालयों से होता था जिनके बजट पर सरकार का सीधे नियंत्रण नहीं होता था। अब उपर्युक्त संस्थाओं के माध्यम से सरकार का नियंत्रण वैज्ञानिक अनुसंधान के काम पर बहुत अधिक बढ़ गया। ध्यान रहे कि 17-18 वीं शताब्दी में भी विज्ञान अकादमी (ब्रिट्रेन में रॉयल सोसाइटी और फ्रांस में एकेडेमी डी साइन्सेज) और अनुसंधान पत्रिका जैसी अनूठी और गतिशील संस्थाओं का जन्म वैज्ञानिक उद्यम में हुआ था, जिससे धर्म-प्रतिष्ठान से संगठित लड़ाई लड़ना और वैज्ञानिक मुद्दों पर जनतान्त्रिक बहस चलाना संभव हुआ था। इस तरह ये संस्थाएं विज्ञान के विकास में एक प्रगतिशील कदम थीं। परन्तु रिसर्च प्रोजेक्ट और सरकारी प्रयोगशाला जैसी संस्थाएं निश्चित रूप से प्रगति विरोधी हैं क्योंकि इन्होंने विज्ञान की सामाजिक जवाबदेही को, सरकारों के प्रति जबावदेही के बराबर बना दिया है। जनतान्त्रिकता, और समाजवाद के इस युग में, राजनैतिक रूप से निष्क्रिय, परन्तु व्यावसायिक रूप से निपुण, और सरकारी विज्ञान की संस्थाओं में संगठित, इन विज्ञान के विशेषज्ञों के माध्यम से, राजसत्ता जनसाधारण को अपने कब्जे में रखने के लिये बहुत सशक्त हो गई है ।

ऊपर मैंने वर्तमान यूरोपीय विज्ञान की कुछ प्रमुख विशेषताएं इंगित की है । यह बात स्पष्ट ही है कि वस्तुस्थिति इस सरल व्याख्या से कहीं अधिक पेचीदी है । और इसलिए मैं आशा करता हूं कि उपर्युक्त समीक्षा वर्तमान विज्ञान की ताकत और कमजोरी के बारे में, एक ऐतिहासिक संदर्भ में बहस शुरू करने में सहायक होगी। क्योंकि यही विज्ञान पूरी दुनिया पर छाया हुआ है, इसका हवाला आगे बार-बार देना जरूरी होगा । सुविधा के लिए, मैं इसके लिए यूरोपीय विज्ञान शब्द का प्रयोग करूंगा ।

(3) भारतीय विज्ञान

भारत तीसरी दुनिया के सबसे महत्वपूर्ण देशों में से है, इसलिए हमारे विज्ञान को भी तीसरी दुनिया के वैज्ञानिक उद्यम के एक हिस्से के रूप में ही देखा जाना चाहिये । यह बात दूसरे विश्वयुद्ध के बाद के समय के लिए विशेष रूप से लागू होती है, जब से विज्ञान और टैक्नोलॉजी तीसरी दुनिया के देशों के शोषण के लिए प्रत्यक्ष रूप से बड़े पैमाने पर इस्तेमाल हो रहे हैं । इस तरह, भारतीय विज्ञान का विकासक्रम भी, यूरोपीय साम्राज्यवाद के विकास और संक्रमण के साथ अभिन्न रूप से जुडा है और उसके द्वारा निर्धारित हुआ है।

भारतीय विज्ञान की शुरूआत सन् 1784 ई में कलकत्ता में एशियाटिक सोसाइटी की स्थापना के साथ देखी जा सकती है । तीस यूरोपीय बुद्धिजीवी इसके सदस्य थे, और सुप्रीम कोर्ट के द्वितीय जज इसके अध्यक्ष थे । इसकी गतिविधियों में प्रकृति के इतिहास के अध्ययन का प्रमुख स्थान था, और इसके लिए वनस्पति-विज्ञान, भूविज्ञान और भूगोल पर ज्यादा जोर था । इसी भावना से सन् 1787 ई. में ईस्ट इंडिया कंपनी ने कलकत्ता के पास 'बौटेनिकल गार्डन' की स्थापना की जिसके माध्यम से भारतीय वनस्पतियों का सुनियोजित अध्ययन संभव था । स्पष्ट है कि वैज्ञानिक प्रणाली के अनुसार भारत के प्राकृतिक साधनों के अध्ययन का प्रमुख उद्देश्य ब्रिटिश व्यापार को विकसित करना था । विज्ञान के क्षेत्र में अंग्रेजों की इस शुरुआती सीधी पहल और नियंत्रण के बाद, 19 वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में विकासक्रम का दूसरा चरण शुरू होता है । डा. महेन्द्र नाथ सरकार द्वारा सन् 1876 ई में 'इण्डियन एसोसियेशन फार द कल्टीवेशन आफ साइंस' की स्थापना कलकत्ता में हुई और इस तरह भारतीयों ने स्वयं अगुआई करना शुरू किया । इस संस्था का महत्व इसी बात से स्पष्ट होता है कि नोबेल पुस्कार विजेता सर सी. वी. रमन ने इसी संस्था की प्रयोगशाला में सन् 1908 ई. में अपना अनुसंधान करना शुरू किया था । इस तरह के काम के लिये पालित और घोष जैसे धनी वकीलों, और खेरा के राजा गुरू प्रसन्न सिंह जैसे सामन्तों ने भारी अनुदान दिये जिससे सन् 1914 ई. में कलकत्ता विश्वविद्यालय में यूनिवर्सिटी कालेज आफ साइंस की स्थापना हुई जहां सर प्रफुल्लचंद्र रे और सर सी. वी. रमन जैसे वैज्ञानिकों ने पढ़ाया और अनुसंधान करना शुरू किया, और वहीं मेघनाद साहा, सत्येन बोस और के. एस. कृष्णन जैसे अग्रणी भारतीय वैज्ञानिक प्रशिक्षित हुए । इसी दौर में यूरोप की ढाई सौ वर्ष पुरानी संस्था विज्ञान अकादमी (जिसके महत्व का उल्लेख पहले किया जा चुका है) के ढांचे पर इंडियन साइंस कांग्रेस (1914), इंडियन अकादमी आफ साइंसेज, बैंगलोर (1934), और नेशनल इंस्टीट्यूट आफ साइंसेज, कलकत्ता (1935) जैसी संस्थाओं की स्थापना हुई ।

इन संस्थाओं में भारतीय वैज्ञानिक उद्यम के व्यवहार में यूरोपीय लोगों का प्रत्यक्ष प्रभाव इसी बात से प्रदर्शित होता है कि सन् 1914 ई. की पहली साइंस कांग्रेस में भाग लेने वाले 21 वैज्ञानिकों में से 14 अंग्रेज थे । इस तरह विज्ञान के भारतीयकरण की इस अवस्था में भी उद्यम बौद्धिक रूप से ही नहीं, भौतिक रूप से भी यूरोपीय लोगों द्वारा नियंत्रित और मार्गदर्शित था, और राष्ट्रीय आन्दोलन के उथल-पुथल से लगभग पूरी तरह कटा हुआ था । अब जरा इसकी तुलना यूरोप के सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दी के विज्ञान के शुरुआती दौर से कीजिए जिसमें वाल्टेयर जैसे दार्शनिक ओर लेखक एक ओर फ्रेंच क्रांति के लिए बौद्धिक नींव तैयार कर रहे थे, और उसके लिए दमन और उत्पीडन का शिकार हो रहे थे, तो दूसरी तरफ न्यूटन की वैज्ञानिक सफलताओं का प्रचार भी वे इसी प्रक्रिया का हिस्सा मानकर कर रहे थे । इस तरह हम देखते हैं कि सन् 1876 ई. से सन् 1947 ई. तक के विज्ञान के भारतीयकरण के इस दौर में यूरोपीय लोगों का प्रत्यक्ष प्रभाव निरन्तर घटता गया, और वैज्ञानिक अनुसंधान के क्षेत्र में भारतीय सक्रिय हुए और अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर उन्होंने महत्वपूर्ण योगदान किये जिसमें रमन, साहा और सत्येन बोस जैसे वैज्ञानिकों का काम उल्लेखनीय है ।

विश्वविद्यालयों में विज्ञान शिक्षा का भी बड़े पैमाने पर विस्तार हुआ, और इसके माध्यम से देश में टैक्नोलॉजी के विकास के लिए बहुत अनुकूल परिस्थिति बनी । परन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से इस विकासक्रम में बुनियादी कमजोरियां रहीं । एक तो इसमें शुरू से और करीब करीब अन्त तक यूरोपीय लोगों ने बौद्धिक और भौतिक रूप से अगुआई की, इसलिये यह वैज्ञानिक उद्यम औपनिवेशिक रहा, और साम्राज्यवादी प्रभुत्व से अलग अपने को देखने की क्षमता इसमें नहीं रही । इस विज्ञान की दूसरी कमजोरी का कारण यह है कि इसकी शुरुआत 18 वीं शताब्दी के अन्त में हुई जब तक यूरोप के विज्ञान में मौलिक परिवर्तन आ चुका था, और दार्शनिक रूप से वह बहुत कमजोर हो चुका था । इस तरह मानवतावादी दृष्टि से यह उद्यम बहुत कमजोर था, और पूरी तरह यूरोपीय साम्राज्यवाद का पिछलग्गू था । परन्तु साथ-साथ क्योंकि टैक्नोलॉजी के माध्यम से इसने देश के आर्थिक विकास में महत्वपूर्ण भूमिका

अदा की इसलिए समाज में इसने अपने लिए महत्वपूर्ण स्थान बना लिया और ''औपनिवेशिक मानव'' की मनोवृत्ति और मानसिक गुलामी के विकसित करने में इसका बहुत बड़ा हाथ रहा। औपनिवेशिक मानसिकता से निर्देशित इस भारतीय विज्ञान की एक विशेषता यह भी रही कि 20 वी शताब्दी के शुरू से ही सरकार ने व्यावहारिक और प्रायोगिक क्षेत्रों में अनुसंधान के लिए प्रयोगशालाएं स्थापित की । इंडियन काउंसिल ऑफ मेडिकल रिसर्च (1911), इंडियन काउंसिल ऑफ एग्रिकल्चरल रिसर्च (1929) और काउंसिल ऑफ साइंटिफिक एण्ड इंडस्ट्रियल रिसर्च (1942) इसके उदाहरण हैं।

इस तरह, भारतीय विज्ञान के विकास का तीसरा चरण सन् 1947 ई. से शुरू होता है, जब जवाहर लाल नेहरू के नेतृत्व में नई शासन व्यवस्था ने विज्ञान और टैक्नोलॉजी को प्रमुखता का स्थान दिया । इस तरह भारतीय विज्ञान में समकालीन यूरोपीय विज्ञान की दो विशेषताएं घटित हुई । पहली विज्ञान और टैक्नोलॉजी के बीच की विभाजन रेखा खत्म होने से विज्ञान टैक्नोलॉजी के और अधिक अधीन हो गया; और दूसरी , कि विज्ञान और टैक्नोलॉजी की गतिविधियों पर सरकारी नियंत्रण और बढ़ गया । पिछले चालीस साल के इस दौर में संख्या की दृष्टि से वैज्ञानिक उद्यम का बहुत विस्तार हुआ । सन् 1947 में देश भर में 20 विश्वविद्यालय थे, और सन् 1972 तक बढ़कर यह संख्या 84 हो गई । सन् 1958-59 में विकास और अनुसंधान कार्य (आर एण्ड डी) पर 29 करोड रुपये खर्च किये गये थे, और सन् 84 में यह राशि बढ़कर 1200 करोड़ रुपये हो गई । आर एन्ड डी संस्थानों में काम करने वाले कर्मचारियों की संख्या 1958-59 में लगभग 21 हजार से बढ़कर सन् 1980-81 में 1 लाख 86 हजार हो गई । इस तेज विस्तार का परिणाम वैज्ञानिक काम के स्तर में गिरावट के साथ-साथ वैज्ञानिक उद्यम के क्षेत्र में नौकरशाही के जन्म और एक नये तनाव के रूप में हुआ । एक तरफ एटोमिक एनर्जी, स्पेस रिसर्च इलेक्ट्रोनिक्स, मोलीक्युलर बाइलोजी और बायोटैक्नोलॉजी जैसे आधुनिक और सुरक्षा के लिए महत्वपूर्ण क्षेत्र हैं जिनके लिए बहुत मंहगे यंत्र और विदेशों से निरन्तर संपर्क जरूरी है। इस काम के लिए टी. आई. एफ. आर', बी. ए. आर. सी., आई. एस. आर. ओ. जैसे अनुसंधान संस्थान, और भारत के 5 आई. आई. टी. जैसे शिक्षा संस्थान खोले गये हैं । इनमें सरकारी पैसा बड़ी आसानी से उपलब्ध रहता है और यहां के वैज्ञानिकों का संबंध यूरोप और अमेरिका के वैज्ञानिक समुदाय से निरन्तर बना रहता है । इसको मैं 'कुलीन वैज्ञानिक समुदाय' कहूंगा। सरकार के वैज्ञानिक सलाहकार, जो विज्ञान और टैक्नोलॉजी संबंधी नीतियां तय कराते हैं, और जो सरकारी पैसे के बंटवारे की देख-रेख करते हैं, इसी (कुलीन) वर्ग के सदस्य हैं। दूसरी तरफ विश्वविद्यालय और बड़ी संख्या में कालेज हैं, जहां की प्रमुख गतिविधि अध्यापन है, और जहां अनुसंधान की सुविधाएं अपेक्षाकृत सीमित हैं इनको मैं 'देशी वैज्ञानिक समुदाय' का नाम दूंगा। कुलीन वैज्ञानिक समुदाय की शिकायत यह रहती है कि देशी वैज्ञानिक समुदाय अभी भी सामंती संबंधों में जकड़ा है, और वहां वैज्ञानिक मनोवृत्ति का नितान्त अभाव है । देशी वैज्ञानिक समुदाय की आलोचना यह है कि कुलीन वैज्ञानकि समुदाय द्वारा देश में अनुसंधान का प्रसार जरूरत से ज्यादा तेजी से किया गया है, जिससे साधारण योग्यता वाले लोग महत्वपूर्ण स्थानों पर पहुंच गये हैं । जबकि जरूरत इस बात की है कि विश्वद्यिालयों को अधिक महत्व दिया जाये और साधन उपलब्ध कराये जावें, जिससे सरकारी नियंत्रण से स्वतंत्र वातावरण में सर्जनात्मक काम किया जा सके ।

मेरा मत यह है कि वैज्ञानिक समुदाय के दोनों ही हिस्से-कुलीन और देशी-अपने अपने ढंग से उपनिवेशवाद के शिकार हैं। दोनों क्रमश: सन् 47 के बाद के और पहले के औपनिवेशिक संबंध की उत्पत्ति हैं। अत: दोनों ही यूरोपीय विज्ञान को असंदिग्ध रूप से सफल मानते हैं, और उसके मानदंडों को निर्विवाद रूप से स्वीकारते हैं, दोनों ही विज्ञान के विकास के सामाजिक संदर्भ के प्रति उदासीन हैं, और इसलिये उनमें विज्ञान की आधारभूत धारणाओं का ऐसा समीक्षात्मक मूल्यांकन करने की क्षमता नहीं है, जिससे मानव आवश्यकताओं को पूरा करने के उद्देश्य से वैज्ञानिक उद्यम का पुनर्गठन किया जा सके । भारतीय विज्ञान संबंधी बहुत सारे उपयुक्त तथ्य जयरथ के लेख से लिये गये हैं ।[1]

(ग) आखिर, इस पुस्तक को पढ़ने से क्या लाभ ?

कुन की पुस्तक तीन प्रकार के लोगों के लिए उपयोगी होगी। पहले तो जो हमारे देश के वैज्ञानिक समुदाय के सदस्य है जिनमें बहुत से महसूस करते हैं कि वैज्ञानिक उद्यम में परिवर्तन और सुधार की जरूरत है । दूसरे, देश के जनविज्ञान आंदोलन में काम करने वाले लोग हैं, जिन्होंने परम्परागत ढंग से विज्ञान करना तो छोड़ दिया है और वैकल्पिक विज्ञान की तलाश कर रहे हैं । तीसरे, देश के सामान्य पढ़े लिखे लोग हैं जिनका सामना विज्ञान की जटिल भाषा से निरन्तर होता रहता है, और समाज में विज्ञान के विशिष्ट स्थान की वजह से , इस तरह विज्ञान का हौआ उनके सामने खड़ा किया जाता है । पुस्तक में वैज्ञानिक उद्यम की निम्नलिखित विशेषताओं को बड़े प्रभावशाली ढंग से रखा गया है -

(1) वैज्ञानिक विकास का सामाजिक संदर्भ

आम धारणा यह है कि वैज्ञानिक के पास ऐसी तार्किक कसौटियां होती हैं कि अपने प्रयोगों के द्वारा वे सही और गलत के

1. विनोद कुमार जयरथ, इन सर्च ऑफ रूट्स - दि इंड्यिन साँइंटिफिक कम्युनिटी, कन्ट्रीब्यूशन टू इंडियन सोशियॉलॉजी (1984).

बीच निश्चित अन्तर स्थापित कर लेते हैं, और इस तरह वैज्ञानिक ज्ञान का भंडार निरंतर बढ़ता जाता है । प्राकृतिक विज्ञान के इतिहास के उदाहरणों से कुन ने यह सिद्ध किया है कि वैज्ञानिक सिद्धांतों की सत्यता के लिए तार्किक कसौटियों के साथ साथ ऐतिहासिक पहलू भी महत्वपूर्ण होते हैं । इस तरह, किसी पुराने ऐतिहासिक सिद्धांत का मूल्यांकन उस विषय की वर्तमान वैज्ञानिक अवधाणाओं से तुलना करके करना गलत है । बल्कि किसी भी वैज्ञानिक खोज का मूल्यांकन अपने ऐतिहासिक संदर्भ में ही करना चाहिए । वैज्ञानिक विकास के दो घनिष्टता से जुड़े पहलू कुन ने बताए हैं: एक तो वैज्ञानिक समुदाय का काम, और दूसरे उसके सामाजिक अर्न्तसंबंध। इससे यह सिद्ध होता है कि वैज्ञानिक उद्यम के बाहर के लोगों की भी विज्ञान के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका होती है । हमारे देश के वैज्ञानिक उद्यम की प्रमुख विशेषता, उसका जन जीवन से अलगाव है, और बौद्धिक और भौतिक रूप से उसकी यूरोपीय वैज्ञानिक उद्यम पर निर्भरता है । अत: इस माहौल में जनजीवन पर आधारित मजबूत वैज्ञानिक परम्परा विकसित नहीं हो सकती ।

डार्विन को समाज और सरकार द्वारा हर प्रकार का सम्मान मिला। इसकी तुलना जरा सर्वेंटीस, और ब्रूनो जैसे वैज्ञानिकों और दार्शनिकों से कीजिये जिन्हें 16 वीं शताब्दी में अपनी जान से हाथ सिर्फ इसलिये धोना पड़ा था, क्योंकि उनके मत धर्म–प्रतिष्ठान को स्वीकार नही थे । 20 वी शताब्दी आते–आते, विज्ञान का भौतिकवादी दर्शन एक निर्विवाद सत्य, और मानव अस्तित्व की आधारशिला बन गया, और इसलिये वैज्ञानिक समुदाय की पहल दार्शनिक प्रश्नों में बहुत घट गई ।

(2) वैज्ञानिक प्रगति का असली मतलब क्या है ?

वैज्ञानिक काम इस मत पर आधारित है कि मानव समाज से स्वतंत्र बाह्य वस्तुगत सत्ता का अस्तित्व होता है । प्रचलित धारणा यह है कि वैज्ञानिक तर्क अकाट्य होते हैं और इसलिये वैज्ञानिक ज्ञान का निरन्तर बढ़ता हुआ भंडार वैज्ञानिकों को इस वस्तुगत सत्ता के निरन्तर निकट पहुंचाता जाता है । इस तरह वैज्ञानिक प्रगति के माध्यम से मानव जाति सत्य के निरन्तर निकट पहुंचती जाती है । कुन इस धारणा को अस्वीकार करता है, और उसका दावा है कि अधिकतर, वैज्ञानिक उद्यम की गतिविधि अपनी प्रणालियों और सिद्धांतों द्वारा निर्धारित और सीमित पैराडाइम द्वारा तय होती है, और वह दफ्ती के टुकड़ों की जिग सॉ पहेली, और अक्षरों से शब्द बनाने वाली शब्द पहेली की तरह होती है। वैज्ञानिक प्रगति का तात्पर्य सिर्फ यही होता है कि पहेलियों की संख्या निरन्तर बढ़ती जाती है; परन्तु जहां तक किसी बाहरी वस्तुगत सत्ता का सवाल है, किसी पैराडाइम की उससे दूरी का कोई अर्थ नहीं होता । इस तरह यह कहना की न्यूटन का गुरुत्वाकर्षण का सिद्धांत अरस्तू के गुरुत्वाकर्षण के सिद्धांत से ज्यादा वैज्ञानिक, या श्रेष्ठ है, एक भ्रान्ति है । अपने-अपने ऐतिहासिक संदर्भ में न्यूटन और अरस्तू दोनों के गुरुत्वाकर्षण के सिद्धांत वैज्ञानिक हैं। इस तरह कुन के अनुसार वैज्ञानिक प्रगति का यह अर्थ नहीं समझा जा सकता कि अपने अनुसंधान के माध्यम से वैज्ञानिक निरन्तर सत्य के निकट पहुंच रहे है । वैज्ञानिक प्रगति की सत्य के सन्निकटन की प्रचलित धारणा वैज्ञानिक अनुसंधान का आतंक बढ़ाने में और वैज्ञानिक का प्रभाव समाज में स्थापित करने में मदद करती है । कुन द्वारा वैज्ञानिक काम को पहेली सुलझाने के उद्यम के रूप में देखना उसके नकली प्रभाव को कम करता है, और जन साधारण के बीच वैज्ञानिक अनुसंधान को अधिक यर्थाथवादी ढंग से रखता है जिससे सामान्य व्यक्ति वैज्ञानिक ज्ञान को ज्यादा अच्छी तरह समझ सकता है । हमारे देश में तो वैज्ञानिकों की जटिल भाषा, उनके महंगे उपकरणों, और समाज में उनके विशिष्ट स्थान की वजह से उनकी दूरी जन जीवन से और भी अधिक है और सत्य की निकटता के उनके भ्रम को तोड़ना निश्चित रूप से लाभदायक एवं आवश्यक होगा ।

(3) यथास्थिति को उचित ठहराने के लिए क्रमिक और सतत विकास की भ्रांति

कुन की एक अत्यंत महत्वपूर्ण धारणा वैज्ञानिक क्रांति की धारणा है । पहेली सुलझाने के उपर्युक्त सतत प्रगति करने वाले उद्यम में कभी कभी अवरोध पैदा हो जाता है , और इस संकट की अवस्था में एक नया पैराडाइम प्रस्तावित किया जाता है । तब पुराने और नये पैराडाइमों के समर्थकों के बीच गंभीर मतभेद और विवाद खड़ा हो जाता है, तो एक वैज्ञानिक क्रांन्ति घटित हो जाती है । इस हालत में पुराने पैराडाइम पर आधारित बहुत-सा वैध ज्ञान, और प्रणालियां अवैध करार कर दी जाती हैं, और नये पैराडाइम की प्रणालियों और सिद्धांतों के तहत पहेलियां सुलझाने का काम फिर शुरू होता है । इस तरह बहुत-सा पुराना वैध वैज्ञानिक ज्ञान अवैध बन जाता है, और वैज्ञानिक विकास की निरन्तरता और क्रमिक गति टूट जाती है । जब पैराडाइम विवाद के दौरान, दो दलों के बीच गंभीर मतभेद खड़े हो जाते हैं, तो इनका निराकरण सिर्फ तर्क

द्वारा संभव नहीं होता, और किसी पैराडाइम के पक्ष में वैज्ञानिक समुदाय का समर्थन पाने के लिए अन्य मनोवैज्ञानिक साधन इस्तेमाल किये जाते है । इस तरह कुन के मतानुसार वैज्ञानिक क्रांति के दौरान पहेली सुलझाने के काम में जो अवरोध पैदा होता है, वह अव्यवस्था, या अराजकता का लक्षण नहीं है, बल्कि वैज्ञानिक विकास की एक अनिवार्य अवस्था है ।

किसी भी समाज-व्यवस्था में अनाधिकार सुविधा वाले वर्गों को यथास्थिति बदलने से हमेशा यह खतरा रहता है कि उनके अधिकार छिन जायेंगे । यह हालत वैज्ञानिक उद्यम के भी बड़े हिस्से की है और इसलिए वे हमेशा विकास की क्रमिकता और सततता की दुहाई देते हैं । परन्तु कुन ने प्राकृतिक विज्ञान के इतिहास से ऐसे अनेक उदाहरण दिये हैं जिनसे विज्ञान के विकास की क्रान्तिकारी अवस्था स्पष्ट रूप से प्रदर्शित होती है । आधुनिक विज्ञान में बुनियादी परिवर्तन लाने की जरूरत है । कुन द्वारा दिये गये वैज्ञानिक क्रांतियों के उदाहरण इसके पक्ष में बड़े प्रभावशाली तर्क हैं और वैकल्पिक विज्ञान की खोज में महत्वपूर्ण और मौलिक रूप से नई संभावनाएं सुझाने में मदद करेंगे।

(4) क्या क्रान्तियां सिर्फ विज्ञान के ही क्षेत्र में घटित होती हैं ?

कुन ने अपनी व्याख्या सिर्फ प्राकृतिक विज्ञान के ही क्षेत्र तक सीमित रखी है , यद्यपि वैज्ञानिक क्रान्तियों का चरित्र समझने के लिये उसने उनकी तुलना राजनैतिक क्रान्तियों से की है । इस तरह क्रान्ति शब्द का जन्म वैज्ञानिक विकास क्रम से नहीं हुआ है बल्कि समाज में घटित होने वाली ऐसी प्रक्रियाओं से हुआ है जिनमें सतत और विकासक्रम का दौर टूट जाता है; समस्याओं को देखने के तरीके में आधारभूत परिवर्तन आ जाता है, और तर्क के अलावा अन्य साधनों से संबंधित लोगों के बीच नये स्तर पर मतैक्य स्थापित होता है। कुन ने इस प्रक्रिया की जो व्याख्या प्राकृतिक विज्ञान के संदर्भ में की है वह अन्य बौद्धिक क्षेत्रों के गठन के लिए भी तर्कसंगत है । यह बात इसी से देखी जा सकती है कि यद्यपि कुन की धारणा का कोई प्रभाव प्राकृतिक विज्ञानियों के उद्यम पर प्रत्यक्ष रूप से नहीं हुआ, अर्थशास्त्र और मनोविज्ञान जैसे क्षेत्रों के कुछ समाज विज्ञानियों ने अपने काम की विवेचना इस धारणा के आधार पर की है । इससे स्पष्ट है कि कुन की यह व्याख्या प्राकृतिक विज्ञानों के क्षेत्र तक ही सीमित नहीं है ।

यह एक बहुत दिलचस्प अनुसंधान का विषय होगा कि भारत में वैकल्पिक विज्ञान की समस्या को कुन की उपर्युक्त व्याख्या के अनुसार प्रतिपादित किया जावे तथा उसको पूरे समाज में चल रही परिवर्तन की प्रक्रिया से जोड़ा जावे; सामाजिक वर्गों के बीच पैराडाइमों की प्रतिस्पर्धा का चरित्र वैज्ञानिक पैराडाइम परिवर्तन की प्रक्रिया से बहुत भिन्न है, और मतैक्य और विश्वासोत्पादन के लिए तर्क के अलावा राजसत्ता जैसे अन्य साधन बहुत महत्वपूर्ण और प्रभावी होते हैं । क्रान्तिकारी परिवर्तन की कुन की धारणा का यह विस्तारण विज्ञान और समाज के पारस्परिक संबंधों को समझने और पुनर्निर्धारण के उपयोगी होगा । ऊपर इसके लिए तर्क दिया गया है कि कुन ने वैज्ञानिक विकास की जो व्याख्या दी है वह सामाजिक विकासक्रम के लिए भी वैध है । एक और उदाहरण के द्वारा इस तर्क की पुष्टि होती है । क्वांटम यांत्रिकी के अनुसार किसी वस्तु के विकास का क्रम भी दो अवस्थाओं में बंटा होता है । इन अवस्थाओं के बीच भी उसी प्रकार का गुणात्मक अंतर होता है, जैसा पहेली सुलझाने की सामान्य विज्ञान की अवस्था और वैज्ञानिक क्रांति की अवस्था के बीच होता है। पहली अवस्था में अवस्था की तैयारी के बाद वस्तु का अवस्थावेक्टर तब तक क्रमिक और सतत ढंग से विकसित होता है, जब तक मापन नहीं किया जाता। मापन करने पर यह पहली अवस्था खत्म हो जाती है, और सामान्यत अवस्थावेक्टर में असतत और आकस्मिक परिवर्तन घटित होता है। कोई ऐसा भौतिक नियम नहीं है जिसके अनुसार यह निश्चित पूर्व घोषणा की जा सके कि मापन के बाद अवस्थावेक्टर क्या होगा; मापन के बाद की विभिन्न संभावनाओं की प्रायिकता ही बताई जा सकती है। इस तरह, क्वांटम यांत्रिकी की दृष्टि से किसी भी वस्तु का विकासक्रम अनिवार्य रूप से , इन दो अवस्थाओं में बंटा होता है जो क्रमश: सतत और क्रमिक, और असतत और आकस्मिक होती हैं। क्वांटम यांत्रिकी का यह उदाहरण देने का तात्पर्य यह प्रदर्शित करता है कि कुन द्वारा प्रस्तावित विकासक्रम की गुणात्मक रूप से भिन्न अवस्थाओं की धारणा बहुत व्यापक है, और प्रकृति में बहुत विविध परिस्थितियों में देखी जाती है । तो इसका विस्तारण समाज विकास के लिये करना बड़ी स्वाभाविक चीज है ।

(5) दुनिया को देखने के लिए एक से अधिक वैध, परन्तु परस्पर विरोधी तरीके

कुन की विवेचना की एक महत्वपूर्ण बात यह है कि वैज्ञानिक समुदाय में जब पैराडाइम विवाद छिडता है तो सिर्फ तर्क द्वारा यह तय करना संभव नहीं होता कि कौन सा पैराडाइम प्रकृति का सही चित्रण करता है। यानी, प्रकृति के जिस भाग का अन्वेषण वह वैज्ञानिक समुदाय करता होता है, उसको देखने के दो नजरिये प्रस्तावित होते हैं, जो किसी न किसी माने में परस्पर विरोधी होते हैं, और केवल तर्क से जिनके बीच चुनाव करना संभव नहीं होता। यह परिस्थिति इस प्रचलित धारणा से बिल्कुल भिन्न है जिसके अनुसार वैज्ञानिकों को हमेशा वह एकमात्र सही नजरिया उपलब्ध रहता है जो प्राकृतिक यथार्थ के अधिक से अधिक निकट होता है। इसलिए इस परिस्थिति की कल्पना भी नहीं की जा सकती है कि दो ऐसे दृष्टिकोण प्रकृति को देखने के हों जिनके बीच सत्यता

के आधार पर भेद केवल तर्कों द्वारा न किया जा सके । परन्तु कुन के मत के अनुसार हर पैराडाइम विवाद के दौरान यह परिस्थिति घटित होती है। और इसका निराकरण तर्क द्वारा या सत्यता के आधार पर नहीं होता, बल्कि उस पैराडाइम को समर्थन मिलता है जिसके आधार पर अधिक पहेलियां सुलझाई जा सकें । समाज में ऐसी परिस्थितियां निरन्तर घटित होती रहती हैं ,जब दो वर्गों का दुनिया का नजरिया भिन्न और परस्पर विरोधी होता है । इस वजह से समाज में गंभीर टकराव पैदा हो जाता है। कुन की धारणाओं के आधार पर, अगर मत-भिन्नता की यथार्थता को स्वीकार किया जाता है तो विभिन्न वर्गों के दृष्टिकोणों के बीच ऐतिहासिक रूप से पैदा हुए अन्तर का नियमगत अध्ययन करना संभव होगा। और तब मानव आवश्यकताओं के अनुरूप मतभेदों को दूर करने, और नये मतैक्य स्थापित करने की प्रक्रिया को अधिक प्रभावी बनाया जा सकेगा । पूंजीवादी और समाजवादी वर्ग दृष्टिकोणों की भिन्नता को समझने, और दुनिया के भविष्योन्मुख संक्रमण की प्रक्रिया को समझने में यह बहुत उपयोगी होगा ।

पुस्तक की उपयोगिता के बारे में और भी बहुत सी बातें कही जा सकती हैं । परन्तु यह प्रस्तुति पुस्तक की समीक्षा नहीं है । और पुस्तक की सारी बातें पाठकों के सामने रखकर मैं पाठकों की किताब पढ़ने की दिलचस्पी पर कुठाराघात नहीं करना चाहता । मुझे आशा है कि उपर्युक्त परिचय पाठकों को किताब पढ़ने के लिये प्रेरित करेगा और वैज्ञानिक उद्यम के ऐतिहासिक अवसरवाद को समझने में उन्हें मदद मिलेगी ।

(घ) विज्ञान को कैसे बदला जाये ?

ऊपर यह बताया गया है कि भारतीय विज्ञान अपने दो सौ वर्ष के इतिहास में यूरोपीय विज्ञान पर पूरी तरह आश्रित रहा, और आज भी यह दयनीय और दु:खद स्थिति चल रही है । सरकारी वैज्ञानिकों के पास इसका सीधा-सा जबाव यह है कि विज्ञान द्वारा खोजे गये प्रकृति के नियम सार्वभौमिक होते हैं, और अगर यूरोप में वे पहले खोजे गये तो उनकी वैधता भारत में कम नहीं हो जाती । विज्ञान के सामाजिक संदर्भ के प्रति उनकी उदासीनता का कारण यह है कि उन्हें समाज में एक विशेष स्थान मिला हुआ है और वे जानते हैं कि कोई भी परिवर्तन चाहे वह समाज व्यवस्था का हो, या वैज्ञानिक उद्यम का, उनके लिये घाटे का सौदा होगा । वैज्ञानिक उद्यम की इस मुख्य धारा से निपटने में कुन की वैज्ञानिक विकास के सामाजिक संदर्भ की स्थापनाएं महत्वपूर्ण हो सकती हैं। आवश्यकता इस बात की है कि यूरोपीय विज्ञान पर आधारित इन धारणाओं से भारतीय विज्ञान के रूपांतरण की समझदारी पैदा करने के लिए वैज्ञानिक प्रणाली इस्तेमाल की जाये । नीचे यही प्रयास किया गया है ।

पिछले कई सौ साल के दौरान हमारे देश की अर्थव्यवस्था, और समाज व्यवस्था का पिछड़ापन एक ऐतिहासिक तथ्य है जिससे यह सीधा निष्कर्ष निकलता है कि यूरोप की साम्राज्यवादी ताकतें हमारा शोषण करने में इसलिये सक्षम हुई क्योंकि उनमें एक अधिक ऊंचे स्तर का सामाजिक संगठन था। यह ईमानदारी से स्वीकारना होगा । साथ-साथ यह बात उतनी ही सच है कि साम्राज्यवादी शोषण ने भारतीय समाज का विकास रोका और हमारा आत्म सम्मान और आत्मविश्वास नष्ट कर दिया । विज्ञान का पिछलग्गूपन इसी बात का अनिवार्य परिणाम है । दूसरे विश्व युद्ध के बाद सम्राज्यवाद का एक नया रूप बदला और विज्ञान और टैक्नोलॉजी इस शोषण के महत्वपूर्ण साधन बन गये हैं । इस तरह राजनीति और विज्ञान के बीच बहुत घनिष्ट और पेचीदा संबंध बन गया है । इस समस्या का राजनैतिक पहलू इस पुस्तक की विषयवस्तु भी नहीं है, और मुझमें उसकी व्याख्या करने की क्षमता भी नहीं है परन्तु वैज्ञानिक उद्यम को बदलने की समस्या के लिये राजनैतिक संदर्भ की निश्चित समझदारी जरूरी है । ऊपर ये बातें इसी आशय से कही गई हैं ।'

भारतीय वैज्ञानिक समुदाय सिर्फ तकनीकी विशेष ज्ञान के प्रक्षेपण और उत्पादन को ही अपनी सामाजिक जिम्मेदारी समझता है । इस काम में भी अनुसंधान को ही प्रमुखता दी जाती है और शिक्षण का काम, जो नये अनुसंधानकर्ता तैयार करने का काम है, अनुसंधान के निचले स्तर का काम समझा जाता है । अनुसंधान में भी किस क्षेत्र को कितना महत्व दिया जाये, यह बात सरकारी नीतियों और निर्णयों से तय होती हैं । इस तरह यह पूरा उद्यम अनुसंधान केन्द्रित है और सरकार द्वारा नियंत्रित है । सरकारी नीतियों का वैज्ञानिक पक्ष निर्धारित कराने के लिये, सरकारी पैसे के बंटवारे और देखरेख के लिए और इस तरह चलने वाली अनुसंधान शालाओं के प्रशासन के लिए वैज्ञानिक उद्यम में एक नया तबका तैयार हो गया है जिन्हें मैं 'विज्ञान के मैनेजर' का नाम दूंगा । ये सब लोग, यानी अनुसंधानकर्ता, शिक्षक और मैनेजर यह सोचते हैं कि केवल तकनीकी विशेष ज्ञान का प्रक्षेपण और उत्पादन ही विज्ञान का एक मात्र उद्देश्य है । सामाजिक संदर्भ की समस्या के झमेले में इन लोगों को इसलिये नहीं जाना पड़ता क्योंकि तकनीकी मानदंड इन्हें यूरोपीय विज्ञान से मिल जाते हैं, और सामाजिक संदर्भ सरकारी नीतियों से तय हो जाता है ।

परन्तु यह सारा उद्यम वैज्ञानिक काम के सारतत्व को भूल चुका है । मेरा मत है कि वैज्ञानिक उद्यम में कोई सार्थक परिवर्तन लाने का मतलब यह है कि विज्ञान की अन्योन्य क्रियात्मक प्रकृति की समस्या को केन्द्रीय बनाया जावे । वैज्ञानिक व्यवहार इससे दो तरह से प्रभावित होगा । पहला तो यह कि प्राकृतिक विज्ञानों का उद्यम भौतिकी, गणित, रसायन विज्ञान, भू विज्ञान, प्राणि-विज्ञान,

वनस्पति विज्ञान जैसी विशेष विद्या-शाखाओं में बंट गया है । और फिर हर विषय अनेक छोटी शाखाओं में बंट जाता है जैसे भौतिकी का क्षेत्र आठ दस विशेष शाखाओं में बंटा है । अनुसंधान रिपोर्टों के आधार पर एक क्षेत्र के व्यक्ति के लिए दूसरे क्षेत्र के व्यक्ति का काम समझ पाना संभव नहीं होता, इसलिये विभिन्न क्षेत्रों के बीच एक दूसरे को प्रभावित करने की क्रिया बहुत कम है, और हर क्षेत्र अपने बहुत संकीर्ण दायरे में प्रकृति का गहराई से अध्ययन करता है है । इस प्रकार अपने व्यावसायिक काम से विज्ञान का कोई संपूर्ण परिप्रेक्ष्य बनना तो दूर, वह और सिमटता जाता है । इस परिप्रेक्ष्य के अभाव में, और सामान्यत: किसी अनुसंधानकर्ता के, अपने विशेष ज्ञान की सीमाओं तक ही बंधे होने की वजह से वैज्ञानिक उद्यम के सदस्यों को वैज्ञानिक कहने का आज कोई औचित्य नहीं है, और इसलिये अपनी अपनी विद्या शाखा के अनुसार उन्हें घन अवस्था, भौतिक विज्ञानी, या आणविक जीव विज्ञानी के रूप में जाना जाता है । विभिन्न विद्या-शाखाओं का यह अलगाव वैज्ञानिक व्यापकता और परिप्रेक्ष्य बनने में बहुत बड़ी बाधा है । मेरा दृढ़ मत है कि वैज्ञानिक व्यावसायिक संस्कृति में यह परिवर्तन लाया जावे कि किसी भी वैज्ञानिक को विभिन्न विज्ञानों की आधारभूत समस्याओं की गहरी समझदारी और जानकारी होनी चाहिए । यह तभी संभव है जब विशेष ज्ञान का महत्व व्यावसायिक जीवन में घटे ।

व्यावसायिक काम के रूपान्तरण का दूसरा पहलू सामाजिक संदर्भ का सवाल है । इसके लिए उपभोक्तावाद का महत्व और विज्ञान के साथ उसका संबंध समझना जरूरी है । विज्ञान पर आश्रित टैक्नोलॉजी द्वारा ही रोटी कपड़ा और मकान जैसे मानव के उपभोग के साधनों की समस्या हल हुई है । परन्तु पूंजीवादी व्यवस्था ने टैक्नोलॉजी के अधिकतम विकास को रोका, और उपभोक्तावादी संस्कृति को जन्म दिया है । यही पूंजीवादी व्यवस्था, इस विज्ञान और टैक्नोलॉजी का दुरूपयोग संपूर्ण मानव जाति को ही नष्ट कर सकने वाले भयावह हथियारों के निर्माण के लिये कर रही है। तथाकथित विकसित देश तीसरी दुनिया पर अपना साम्राज्यावादी प्रभुत्व इसी फौजी ताकत के बल पर जमाए हैं। इस तरह हम देखते हैं कि पूंजीवाद आधुनिक टैक्नोलॉजी और विज्ञान, उपभोक्तावाद और सैन्यवाद और साम्राज्यवादी शोषण एक ही प्रक्रिया के विभिन्न पहलू हैं । पूंजीवादी मुनाफे के लिये उत्पादन अनियंत्रित ढंग से बढ़ाया जा रहा है । और इसी के परिणामस्वरूप प्राकृतिक पर्यावरण का संतुलन बिगड़ने की समस्या, प्रदूषण, औद्योगिक दुर्घटनाएं और मजदूरों को होने वाले व्यावसायिक रोग जैसे गंभीर संकट पैदा हो रहे हैं । यद्यपि इस टैक्नोलॉजी को विकसित करने के लिए वैज्ञानिक उद्यम जिम्मेदार हैं, परन्तु उपभोक्तावादी संस्कृति का स्वयं शिकार होने के कारण, वैज्ञानिकों के लिये इन अमानवीय गतिविधियों को रोकना संभव नहीं है । पूरा समाज पूंजीवादी शोषण और उपभोक्तावादी संस्कृति का सामना करने की चेतना अपने अन्दर पैदा कर सके, इसके लिये वैज्ञानिक संस्कृति एक अनिवार्य साधन है । वैज्ञानिक संस्कृति की स्थापना में वैज्ञानिक समुदाय की दोहरी जिम्मेदारी है। पहली बात तो यह कि उपभोक्तावाद का जन्म विज्ञान और टैक्नोलॉजी से ही होता है, अत: वैज्ञानिक उद्यम के लोग इस बीमारी को पैदा करने में प्रत्यक्ष रूप से भागीदार है । दूसरे, विज्ञान आज की सबसे विकसित और शक्तिशाली ज्ञानपद्धति है । वैज्ञानिक तर्कबुद्धि के अनुप्रयोग से ही समाज का पुनर्गठन और मानव आवश्यकताओं का निर्धारण संभव होगा, जिससे ऐसा समाज बने जहां मानव प्रतिष्ठा और सामाजिक न्याय सर्वोच्च जीवन मूल्य हो। वैज्ञानिक यह सामाजिक जिम्मेदारी तभी ले सकता है, जब उसमें वह गहरी संवेदना हो जिसका हवाला आइन्स्टाइन के उपर्युक्त उद्धरण में दिया गया है। व्यावसायिक व्यवहार की दृष्टि से इसका तात्पर्य यह होता है कि विज्ञान और दर्शन के बीच ऐसा नया संबंध बनाया जावे, जिसमें यांत्रिक भौतिकवाद की मानव से निरपेक्ष और स्वतंत्र विज्ञान की धारणा को अस्वीकार करके, एक ऐसे विश्व दृष्टिकोण का निर्माण हो जिसका केन्द्र मानव और सामाजिक न्याय हो । इस संदर्भ में साम्राज्यवादी उत्पीड़न के शिकार गुलाम देशों के दृष्टिकोण से समाज के असमान विकास का अध्ययन केन्द्रीय महत्व रखता है। और इसमें भी, विकास क्रम की अलग अलग अवस्थाओं पर स्थित हिस्सों के बीच ज्ञान और अज्ञान के बीच चलने वाला संघर्ष और इस तरह ज्ञान के विकासक्रम की प्रक्रिया का ठोस स्वरूप समझना, और उसके आधारभूत सिद्धांत पता लगाना एक बुनियादी काम है। असमान विकास की अवस्था में, सामाजिक रूप से बचे हुए, और अविकसित हिस्सों के बीच ज्ञान के आदान-प्रदान की दुतरफा प्रक्रिया ज्ञान मीमांसा की बहुत महत्वपूर्ण और दिलचस्प समस्या है। न्यूटन के गति के तीसरे नियम से, जिसके अनुसार क्रिया और प्रतिक्रिया के बल बराबर होते हैं, क्या हम इस विषय में कुछ सीख सकते हैं?

विज्ञान जनसाधारण के साथ कैसे जुड़े ?

इस काम के लिये सबसे जरूरी चीज वर्तमान युग में विज्ञान की सामाजिक जिम्मेदारियों की खोज है । यह काम हमारे लिए यूरोपीय विज्ञान नहीं कर सकता, इसके लिए तो जरूरी है कि अपनी संकीर्ण व्यावसायिक प्रतिबद्धता, और सरकार पर अपनी निर्भरता को छोड़कर, वैज्ञानिक उद्यम अपने को व्यापक समाज से जोडे; अर्थात, संस्कृति के क्षेत्र में काम करना शुरू करे । आज समाज में जो उपभोक्तावादी संस्कृति हावी है, उसका आर्थिक आधार आधुनिक टैक्नोलॉजी है, और इसलिये दर्शन के क्षेत्र में, इस टैक्नोलॉजी को पैदा करने वाले विज्ञान के यांत्रिक भौतिकवादी दर्शन का बोलवाला है । इस दर्शन को बदलने और उपभोक्तावादी संस्कृति के बजाय एक नई संस्कृति का निर्माण करने के लिये,

वैज्ञानिक तर्क-बुद्धि के आधार पर नई मानव आवश्यकताओं की, और नये जीवन मूल्यों की खोज करना जरूरी है । इसी को मैं वैज्ञानिक संस्कृति कहता हूं। ठोस सामाजिक व्यवहार के हिसाब से, इसके लिये वैज्ञानिक उद्यम के लोगों को निम्नलिखित तीन प्रकार के काम करने चाहिये ।

पहला तो आत्मालोचनात्मक अध्ययन का काम है, जिससे विज्ञान की दार्शनिक कमजोरियों और समाज से अलगाव का पता लगे । यह आधुनिक विज्ञान का सम्यक परिप्रेक्ष्य बनाने, विज्ञान के इतिहास और दर्शन का अध्ययन करने का काम है । यह मुख्यत: वैज्ञानिक समुदाय के अन्दर किया जाने वाला काम है, और इसी की सफलता के लिये जरूरी होगा कि वैज्ञानिक उद्यम में ऐसी नई संस्थाएं बनाई जावें जो विज्ञान के अनुसंधान और प्रशिक्षण की वर्तमान संस्थाओं की जड़ता, घुटन और विशिष्ट वर्गीय घमंड से मुक्त हों । अर्थात् ये नये ढंग से अध्ययन करने वाली संस्थाएं होनी चाहिये ।

दूसरा काम यह है कि, वैज्ञानिकों को समाज के अन्य बौद्धिकों के साथ जुड़ना चाहिये । इसमें साहित्यकार, कलाकार, समाजविज्ञानी, डाक्टर, वकील, सरकारी अफसर, अध्यापक आदि शामिल हैं। वैज्ञानिक संस्कृति का सवाल सिर्फ वैज्ञानिक समुदाय की समस्या नहीं है । वैज्ञानिक तो सिर्फ वैज्ञानिक प्रणाली सुझा सकते हैं, जिससे सामाजिक व्यवहार, और सिद्धांत के बीच एक नया संबंध बनाया जा सके । परन्तु इस काम के लिए सामाजिक यथार्थ की पहल की जिस गहरी समझ की जरूरत है, वह तो विभिन्न उद्यम के लोगों द्वारा अपने अपने अनुभव और व्यावसायिक दृष्टिकोण से ही उपलब्ध हो सकती है । इसी व्यावहारिक और सैद्धांतिक ज्ञान के आधार पर जटिल सामाजिक संबंधों का वैज्ञानिक विश्लेषण संभव होगा, और वैकल्पिक समाज व्यवस्था का ठोस स्वरूप विकसित हो पायेगा। इस काम के लिये भी जनतांत्रिकता पर आधारित उपयुक्त संस्थाओं की खोज करनी होगी ।

तीसरा काम, समाज के बाकी हिस्सों के साथ संबंध बनाने का है । इसमें जन-संगठनों में काम करने वाले सामाजिक कार्यकर्ता, शिक्षित बेरोजगार और छात्र, और समाज के गरीब तबके के लोग हैं । इस सामाजिक सम्पर्क में सबसे बडा खतरा सुधारवाद का यह धोखा है, कि अपने विशेष ज्ञान, और प्रतिष्ठा के द्वारा हम दूसरों की जिन्दगी सुधार देंगे । स्थिति इसकी ठीक उल्टी होनी चाहिए। दूसरे लोगों के साथ जुड़कर और सामूहिक रूप से खोजबीन कर सामाजिक यथार्थ का पता लगाना चाहिए और इस तरह यह आत्म शिक्षा का कार्यक्रम होना चाहिए । यानी, एक तरफ हमें यह पता लगाना चाहिए कि पूंजी के मुनाफे के लिए काम करने वाला विज्ञान और टैक्नोलोजी लोगों के व्यावसायिक, पारिवारिक और सांस्कृतिक जीवन में कैसे संकट पैदा करती है। दूसरी तरफ हमें यह पता लगाना चाहिये कि समाज में इतनी अव्यवस्था के बावजूद लोग अन्याय से कैसे जूझ रहे हैं, और तबाही से अपने आप को कैसे बचा रहे हैं? तभी, इस ठोस सामाजिक संदर्भ में, वैज्ञानिक उद्यम और बाकी समाज को एक नये ढंग से जोड़ने वाले जन-विज्ञान आन्दोलन की जिम्मेदारियां स्पष्ट होंगी, और काम का ठोस कार्यक्रम बन पावेगा।

भारतीय विज्ञान के विकास का तीसरा चरण सन् 1947 ई. से शुरू होता है, जब जवाहर लाल नेहरू के नेतृत्व में नई शासन व्यवस्था ने विज्ञान और टैक्नोलॉजी को प्रमुखता का स्थान दिया । इस तरह भारतीय विज्ञान में समकालीन यूरोपीय विज्ञान की दो विशेषताएं घटित हुई । पहली विज्ञान और टैक्नोलॉजी के बीच की विभाजन रेखा खत्म होने से विज्ञान टैक्नोलॉजी के और अधिक अधीन हो गया; और दूसरी , कि विज्ञान और टैक्नोलॉजी की गतिविधियों पर सरकारी नियंत्रण और बढ़ गया ।

विज्ञान की प्रधानता के इस युग में विज्ञान को सामाजिक रूप से जबावदेह बनाने के लिए एक नयी संस्था बनानी होगी जिसको आम तौर से 'जन विज्ञान' कह कर पुकारा जाता है । स्पष्ट है कि यह काम वैज्ञानिक उद्यम और बाकी समाज के बीच इस उद्देश्य के लिए एक नया संबंध बनाकर संभव है । हमारे देश में इसके लिए प्रयास 20-25 साल से हो रहे हैं । देश के विभिन्न प्रदेशों में काम करने वाले संगठन, केरल में केरल शास्त्र साहित्य परिषद, महाराष्ट्र में लोक विज्ञान संगठन, मध्यप्रदेश में किशोर-भारती और एकलव्य मद्रास में पी.पी.एस. टी. (देशभक्त और जनोन्मुख विज्ञान और टैक्नोलॉजी), और प. बंगाल के अनेक संगठन इसमें उल्लेखनीय है। इसी परम्परा के एक हिस्से के रूप में, और इस लेख में दी गई सैद्धांतिक समझदारी के आधार पर, मैं पिछले 4-5 वर्ष से जन विज्ञान समिति, कानपुर नामक संगठन के अन्तर्गत काम करता रहा हूं। हमारे काम की उल्लेखनीय बातें निम्नलिखित हैं । मुख्यत: हमारा काम कठिनाइयों और नकारात्मक प्रयोगों की कहानी है । सौभाग्यवश, इन कमियों के बावजूद काम की नयी संभावनाएं उभरी हैं, और पिछले अनुभव से लाभान्वित होकर हम अपने काम को उत्साह से कर रहे हैं । मौटे तौर पर सारे काम को दो हिस्सों में बांटा जा सकता है ।

(1) सैद्धांतिक काम - यह लगभग पूरी तरह आई. आई. टी. के बौद्धिकों के बीच सीमित रहा है, और इसमें औपचारिक और अनौपचारिक दोनों तरह से हमने काम किया है । दो सेमेस्टर से एक कोर्स जिसका शीर्षक वैज्ञानिक विचारों का इतिहास है, यहां पढ़ाया जा रहा है । उसमें मैंने लेक्चर दिये हैं और छात्रों के सामने यूरोपीय विज्ञान का समीक्षात्मक मूल्यांकन करने के लिये विज्ञान का इतिहास पढ़ने का अच्छा मौका मिला है । अनौपचारिक काम, छात्र और शिक्षकों के साथ सामूहिक अध्ययन चलाने का काम है क्योंकि हमारा विशेष ध्यान भौतिक विज्ञान के क्षेत्र तक सीमित है, हमने जीव विज्ञान के इतिहास, और दर्शन और सामाजिक संदर्भ का अध्ययन किया है। अनौपचारिक होने के नाते यह काम सुनियोजित तो नहीं रहा, परन्तु तब भी बहुत उपयोगी रहा है और इस काम के द्वारा विशेष ज्ञान तक सीमित अपनी वैज्ञानिक दृष्टि की संकीर्णता का एहसास मुझको हुआ है। विज्ञान की सैद्धांतिक समझदारी बढ़ाने और दर्शन के साथ विज्ञान के समन्वय के लिये हमने कानपुर के प्रगतिशील बुद्धिजीवियों से भी संपर्क स्थापित करने का प्रयास किया है । हमारा दृढ़ मत है कि जन-विज्ञान आंदोलन जिस समाजवादी राजनैतिक समझदारी के तहत चलना चाहिये, उसके लिये राष्ट्रीय स्तर पर बौद्धिकों को आंदोलित होना, और राजनैतिक पहल करना बहुत जरूरी है । दुर्भाग्यवश, बौद्धिकों को जोड़ने में हमें बहुत कम सफलता मिली है, पर हमारे प्रयास जारी हैं।

(2) व्यावहारिक काम - जन-जीवन में वीडियो का प्रभाव निरंतर बढ़ रहा है, और इसके द्वारा सस्ती हिंदी फिल्मों के रूप में आम जनता के बीच उपभोक्तावादी संस्कृति स्थापित की जा रही है। हमारा मत है कि भविष्य में जन-शिक्षा और समाज-परिवर्तन की प्रक्रिया में वीडियो की भूमिका और भी बढ़ेगी और इसका सकारात्मक उपयोग करना संभव है । इस महंगे और तकनीकी रूप में पेचीदा माध्यम का अनुभव प्राप्त करने के लिए हमने स्कूली छात्रों और जन साधारण के बीच वीडियो फिल्मों का प्रदर्शन शुरू किया है। इसके लिये अच्छी और सस्ती फिल्में मिलना एक कठिनाई है, परन्तु हम कोशिश कर रहे हैं कि प्रकृति का इतिहास, भूगोल, सामाजिक संस्थाओं का ऐतिहासिक विकास, समकालीन इतिहास व सामाजिक आंदोलन, जन-साधारण की दृष्टि से विज्ञान, जन-स्वास्थ्य आदि विषयों पर फिल्में मिलें । वीडियो फिल्मों के द्वारा हम दो उद्देश्य हासिल करना चाहते हैं, एक तो उपभोक्तावादी संस्कृति के बजाय लोगों को स्वस्थ और शिक्षाप्रद मनोरंजन मिले। दूसरा, लोग विज्ञान को आंख मींचकर स्वीकारने के बजाय उस पर यह सोचें और समझें कि उसमें क्या उनके लिए उपयोगी है, और क्या हानिकारक है । इस कार्यक्रम को बढ़ाने के लिए 35 मि. मी. स्लाइड जैसे सस्ते माध्यम भी विकसित करने का हमारा विचार है। पूरा का पूरा काम ही प्रारम्भिक अवस्था में है, और इसलिये इसके सकारात्मक व नकारात्मक अनुभवों का पता संभवत: अगले दो-तीन साल के काम के बाद ही लगेगा ।

(च) सारांश

ऊपर मैंने पाठकों के सामने अपना अनुभव, समझदारी, असफलताएं और काम की संभावनाएं रख दीं हैं । इसमें प्रमुख पहलू समझदारी का है, जो दुर्भाग्यवश अधिकतर किताबी है। इन सब बातों का सामाजिक यथार्थ के साथ मेल बहुत हद तक, संभावना के स्तर पर है । परन्तु इतने भ्रमों, संदेहों, अनिश्चितताओं और अस्पष्टता के बावजूद एक बात साफ है कि आज का विज्ञान सरकारी विज्ञान है। यह विज्ञान सिर्फ टैक्नोलॉजी निर्माण करने का साधन समझा जाता है, और इस टैक्नोलॉजी का उद्देश्य पूंजीपतियों का मुनाफा बढ़ाना और मध्यमवर्ग में उपभोक्तावादी मनोवृत्ति और संस्कृति स्थापित करना है। इससे समाज के सबसे बहुसंख्यक और गरीब तबके की गरीबी बढ़ती है । इसलिये विज्ञान को बदलने की समस्या इस प्रगतिविरोधी विज्ञान के विकल्प के रूप में नये विज्ञान की खोज करना है। यह नया विज्ञान मानव-केन्द्रित होना चाहिये, और इसमें दर्शन, विज्ञान, टैक्नोलॉजी और राजनीति के बीच नया संबंध स्थापित होना चाहिये । इसके सामने दो मुख्य उददेश्य होने चाहिये । पहला, समाजवादी आधार पर समाज का पुनर्गठन करना, और दूसरा टैक्नोलॉजी के माध्यम से जीवन की भौतिक आवश्यकताएं उपलब्ध कराना । यह पूरी समस्या, सामाजिक संदर्भ में बहुत बड़ी और जटिल है । इस बात का एक प्रमाण मुझे इसी से मिलता है कि अपने सम्पर्क के सभी लोगों के साथ चाहे वैज्ञानिक समुदाय के सदस्य हों, या अन्यथा, मेरी बराबर चर्चा होती रहती है और मेरे द्वारा दिये गये तर्कों का कोई उत्तर उनके पास नहीं होता । परन्तु तब भी सामान्यत: जन विज्ञान के सवाल में उनकी दिलचस्पी और सहयोग बहुत कम होता है, जो मेरे लिये निरन्तर निराशा का कारण बनता हैं । मैं जिन लोगों की बात कर रहा हूं, वे अनुभवी, समझदार, संवेदनशील और वैज्ञानिक मानसिकता वाले लोग होते हैं । इसलिये उनकी दिलचस्पी की कमी का कारण उनका बौद्धिक पिछड़ापन नहीं है । बल्कि, यह वैकल्पिक विज्ञान की धारणा की कमजोरी है कि हम उसे साधारण व्यक्ति के जीवन के साथ नहीं जोड़ पाये हैं, जिससे वह उसे सहज रूप से समझ सके । स्पष्ट है, हमारी दिल्ली अभी बहुत दूर है । सामाजिक न्याय में आस्था रखने वाले, संवेदनशील और राष्ट्रीय भावना से प्रेरित विज्ञान के हर ईमानदार छात्र के लिये यही सबसे बड़ी चुनौती है । मेरा विश्वास है, कि कुन की यह पुस्तक, कम से कम उन पाठकों के लिये जो इसकी जटिलता के जाल में खो न जावेंगे, सैद्धांतिक समझदारी बढ़ाने के लिये अवश्य उपयोगी होगी।◆